

KAAV INTERNATIONAL JOURNAL OF ARTS,HUMANITIES
& SOCIAL SCIENCES

नाटक की प्रस्तुति प्रक्रिया एवं उसके विभिन्न चरण

अल्का मणि

शोधार्थी

हिन्दी विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

साहित्य जीवन की अनुकृति है किन्तु नाटक अपने रंगमंच से जुड़ने अर्थात् उसका माध्यम होने के कारण सबसे अधिक जीवन का अनुकरण करता है। रंगमंच नाटक को जीवंतता प्रदान कर उसे अन्य साहित्यिक विधाओं से बहुत ऊँचा उठा देता है जैसा की नेमिचन्द्र जैन लिखते हैं "नाटक साहित्यिक अभिव्यक्ति की ऐसी विधा है जो केवल साहित्य नहीं, उससे अधिक कुछ और भी है, क्योंकि रचना की प्रक्रिया लेखक द्वारा लिखे जाने पर ही समाप्त नहीं होती, उसका पूर्ण प्रस्फुटन और सम्प्रेषण रंगमंच पर जाकर ही होता है।"¹ नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत होने के पश्चात् ही अपने पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यदि नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत होने की कोटी में नहीं आता तो वह नाटक कहलाने का अधिकारी नहीं है क्योंकि नाटक का रंगमंच पर प्रस्तुतीकरण ही उसे अन्य साहित्यिक विधाओं से भिन्न बनाता है। नाटक में सामाजिकता होती है। यह एक सामूहिक कर्म है। अन्य साहित्यिक विधाओं की भाँति यह केवल स्व के लिए नहीं रची जाती क्योंकि नाट्य प्रस्तुति एक लोक सम्प्रेषण का माध्यम है, स्वयं सम्प्रेषण का नहीं।

यह ज्ञात है कि रंगमंच पर प्रस्तुत होने के पश्चात् ही नाटक सच्चे अर्थों में वह गुण प्राप्त करता है जिसके अभाव में वह नाटक कहलाने योग्य नहीं है। इससे एक प्रश्न यह उठता है कि वास्तव में प्रस्तुति प्रक्रिया है क्या? यँ तो यह साधारण सा दिखने वाला प्रश्न प्रतीत होता है किन्तु यह अपने आप में असाधारण है। देवेन्द्र राज अंकुर जैसे नाट्य विशेषज्ञ भी इसका उल्लेख करते हुए लिखते हैं ".....यों कहने को यह एक बहुत ही साधारण सा प्रश्न है, लेकिन यदि इस प्रश्न पर सोच-विचार किया जाए तो सचमुच में नाटक के आलेख से प्रस्तुति तक की यात्रा उतनी सीधी और सपाट नहीं होती जैसी की वह दर्शकों को दिखाई पड़ती है।"²

नाटक की प्रस्तुति प्रक्रिया, नाटक लिखे जाने से लेकर रंगमंच पर प्रस्तुत होने तक की विभिन्न चरणों का समूह है अर्थात् नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करने के लिए जिन-जिन चरणों से गुजरना पड़ता है वे सभी नाटक की प्रस्तुति प्रक्रिया के विभिन्न अंग होते हैं, जिसमें नाटक के चुनाव, पात्रों के चुनाव, दृश्यबंध, वेशभूषा, प्रकाश और ध्वनि व्यवस्था इत्यादि सभी सम्मिलित होते हैं। नाटक की मंच पर प्रस्तुति एक कठिन तपस्या है। इस प्रस्तुति प्रक्रिया के एक-एक चरण, नाटक के मंचन को सफल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इनमें से किसी एक स्तर पर हुई गड़बड़ी सम्पूर्ण परिश्रम पर पानी फेर सकती है।

भारत में बेटी का विवाह सबसे कठिन कार्य माना जाता है क्योंकि वर ढूँढने से लेकर विवाह की व्यवस्था तक, किसी कार्य में हुई गलती बेटी की पूरी जिन्दगी खराब कर सकती है। रमेश राजहंस नाटक के प्रस्तुतीकरण की तुलना बेटी के विवाह से करते हैं। वे लिखते हैं "नाटक करना बेटी ब्याहना है। सिर्फ एक फर्क है। वह यह कि असली बेटी के ब्याह में बेटी तो कम से कम घर की होती है, उसे नहीं ढूँढना पड़ता। यहाँ तो बेटी (नाटक) भी चुननी पड़ती है। पहले बेटी चुनों, फिर लड़का (अभिनेता) ढूँढो, फिर ब्याह का दिन तय करो और हॉल, भाड़े, फर्नीचर आदि से लेकर उद्घाटनकर्ता, मुख्य अतिथि और दर्शकों तक के इन्तजाम की परेशानी में जुट जाओ। फिर आयेगा ब्याह का दिन। उस दिन देखो नखरे सबके। जैसे नाटक देखने नहीं आए हैं, मेरी बेटी का उद्धार करने आए हैं।"³

नाटक की प्रस्तुति ही उसे सम्प्रेषणीय बनाती है। उसमें निहित गूढ अर्थों को उसके प्रदर्शन के द्वारा ही सृजनात्मक सार्थकता प्राप्त होती है। नाटक के प्रदर्शन के विभिन्न चरण अच्छे एवं बुरे अनुभवों से भरे होते हैं। फिर यह तो कहा ही जा सकता है कि "नाटक की प्रस्तुति एक रचनात्मक कला है, इसकी अपनी रचनात्मक प्रक्रिया है, अपने दर्द हैं अपना सुख है। प्रस्तुति प्रक्रिया से गुजरते हुए जो अनुसंधान, अविष्कार और रचने का अहसास या अनुभूति होती है, उसे अभिव्यक्त करना मुश्किल है। बस यूँ समझिये की गूंगे का गुड़ है।"⁴ इस आधार पर कहा जा सकता है कि नाटक, प्रस्तुति के लिए जिन क्रमबद्ध प्रक्रियाओं से होकर गुजरता है उसे नाटक की प्रस्तुति प्रक्रिया कहते हैं।

भारत में नाटक की परंपरा बहुत ही प्राचीन रही है। भरतमुनि द्वारा रचित 'नाट्यशास्त्र' इसका प्रमाण है। इसके कई पद्य नाट्य प्रस्तुतीकरण पर भी अपने मत रखते हैं। उनका यह मत उनकी परिस्थिति-परिवेश, युगीन रूढ़ियाँ, शैलियाँ, पद्धतियाँ, साधनों की उपलब्धता पर आधारित है किन्तु वर्तमान में भी नाट्य प्रस्तुतीकरण का स्वरूप इन्हीं वर्णित तत्वों पर निर्भर करता है। इसका प्रमाण यह है कि वर्तमान में नाट्य प्रस्तुतीकरण का महत्वपूर्ण अंग निर्देशक का अस्तित्व प्रकट हुए अभी लगभग सवा सौ वर्ष ही हुए। पश्चिम में निर्देशक की तुलना जहाज के कप्तान से की गई है जो प्रतिकूल धाराओं अर्थात् विपरीत परिस्थितियों में भी जहाज को अपने पूर्ण नियंत्रण में रखकर उसे सकुशल उसके मंजिल तक पहुँचाता है।

नाटक के दो पहलू होते हैं पहला परफार्मेंस दूसरा प्रक्रिया। दोनों एक-दूसरे का पर्याय भी माने जा सकते हैं। जिस नाटक के परफार्मेंस को हम देखते हैं वह कई प्रक्रियाओं से होकर प्राप्त होता है।

निर्देशक, अभिनेता, प्रेक्षक ये तीन इसके प्रमुख तत्व हैं किन्तु इसके अतिरिक्त भी इसके कई चरण हैं जिस पर हम विस्तार से चर्चा करते हुए इसके प्रस्तुति प्रक्रिया को समझने का प्रयास करेंगे।

नाटक एक सामाजिक कला है, एक सामूहिक कर्म है अतः इस समूह के समन्वय के लिए एक नेतृत्व का होना आवश्यक है। नेतृत्व की आवश्यकता अव्यवस्था को रोकने तथा समन्वय स्थापित करने के लिए आवश्यक है। नाटक के प्रस्तुतीकरण में यह नेतृत्व का कार्य निर्देशक द्वारा पूरा किया जाता है। निर्देशक प्रत्यक्ष रूप से मंच पर उपस्थित भले न हो किन्तु उसका योगदान नाटक के प्रत्येक चरण में होता है। नाटक का चयन, पात्रों का चयन, वेशभूषा, प्रकाश एवं ध्वनि व्यवस्था इत्यादि सभी निर्देशक के निर्धारित नियमों पर ही आधारित होते हैं। वह नाटक के गूढ़ अर्थों को सर्वजन के लिए ग्राह्य बनाता है। इस तरह से वह नाटक का निर्माता कहा जाता है। प्रस्तुति प्रक्रिया उसी के दिशा-निर्देशों पर आधारित होती है। नाटक की सफलता बहुत हद तक उसकी कार्यकुशलता और दृष्टिकोण पर निर्भर करती है। "निर्देशक ही वह केन्द्रीय सूत्र है, जो नाट्य-प्रदर्शन के विभिन्न तत्वों को पिरोता है और उनकी समग्रता को एक समन्वित बल्कि सर्वथा स्वतंत्र कला-रूप का दर्जा देता है। सार्थक प्रदर्शन में नाटक जिस रूप में दर्शक के पास पहुँचता है वह बहुत कुछ निर्देशक के कला-बोध, सौन्दर्य-बोध और जीवन-बोध को ही सूचित करता है। निर्देशक ही यह निर्णय करता है कि नाटक के विभिन्न अर्थ-स्तरों में कौन-सा एक या कुछेक उसके प्रदर्शन के लिए और उस प्रदर्शन के माध्यम से ही उसकी अपनी सृजनात्मक अभिव्यक्ति के लिए, प्रासंगिक सार्थक और केन्द्रीय है।"⁵

रीतारानी पालिवाल तो निर्देशक के पर्याय 'सूत्रधार' की बड़ी सुन्दर व्याख्या करते हुए लिखती हैं "प्रस्तुतीकरण का नियामक सूत्रधार ही होता है। जिस प्रकार कठपुतली का तमाशा दिखाने वाला व्यक्ति अपनी पुतलियों की डोरी को थामे रहता है तथा निश्चित दिशा में उनको परिचालित करके खेल दिखाता है उसी प्रकार संपूर्ण नाट्य-प्रदर्शन का परिचालन नियमन एवं निर्धारण निर्देशक ही करता है। संभवतः इसी दृष्टि से उसे सूत्रधार नाम मिला हो।"⁶

चूँकि निर्देशक नाटक को एक नई व्याख्या प्रदान करता है इसलिए उसे रंगमंच के अंग-उपांगों का ज्ञाता होना चाहिए। अंग्रेजी में एक कहावत भी है कि **One must know everything of something and something of everything** अर्थात् उसे एक विषय का सम्पूर्ण ज्ञान और अन्य विषयों का थोड़ा बहुत ज्ञान अवश्य होना चाहिए। निर्देशक की महत्वपूर्ण भूमिका के कारण ही भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में भी निर्देशक (सूत्रधार) का उल्लेख किया है। उन्होंने निर्देशक के कई महत्वपूर्ण गुणों की भी चर्चा की है।

निर्देशक अपने रंगप्रयोग के द्वारा नाटक को एक नया अर्थ प्रदान करता है जो युग परिवेश के परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिक होता है। एक ही नाटक को अलग-अलग निर्देशकों ने अपनी रुचि एवं सृजनात्मक आवश्यकता के लिए अलग-अलग रूप में प्रस्तुत किए हैं। इन छोटे-छोटे प्रयोगों से निर्देशकों ने नाटक को नई व्याख्या प्रदान करते हुए उसकी नयी सम्भावनाओं को उजागर किया है। ज्ञानदेव अग्निहोत्री के

नाटक 'शुतुरमुर्ग' को श्यामानंद जालान ने आजाद भारत की स्थिति पर एक चुभने वाला व्यंग्य के रूप में प्रस्तुत किया। ब.व. कारंत (बाबू कोडि वेंकटरामन कारंत) ने 'अंधेर नगरी' नाटक में नए प्रयोग करते हुए हर चरित्र के लिए, भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के भाषा-भाषी अभिनेता-अभिनेत्रियों को शामिल किया। परिणामतः अंधेर नगरी का बाजार वाला दृश्य (द्वितीय) पूरे देश की बोलियों-भाषाओं, हाव-भाव, पहनावा और व्यवहार का प्रतिनिधि दृश्य बन गया। कारंत ने नाटक के अंत में एक प्रसंग जोड़ा जिसमें महंत और उसके दोनों चले क्रमशः राजा, मंत्री और दरबारी के रूप में सिंहासन ग्रहण करते हैं, जो तत्कालीन समय में राजनीतिक सत्ता में हुई परिवर्तन पर एक करारा प्रहार करती हुई यह सत्य उद्घाटित करती है कि सत्ता चाहे किसी के हाथ में हो, उसका चरित्र नहीं बदलता है। इसी तरह हबीब तनवीर और इब्राहिम अलकाजी ने भी अपनी नाट्य प्रस्तुतियों में कई रंग प्रयोग किए।

निर्देशन प्रक्रिया में नाटक प्रस्तुतीकरण के कई चरण होते हैं जिसमें सबसे पहले आलेख का चुनाव। आलेख यहाँ इसलिए कहा गया है क्योंकि अब कहानी एवं उपन्यास का भी नाट्य रूपान्तरण करके मंचित किया जा रहा है। वास्तव में नाट्य कृति ही वह नींव का पत्थर है जिस पर नाट्य-मंचन का सफलता रूपी महल खड़ा किया जाता है। नाटक के चुनाव में बहुत ही सावधानी की आवश्यकता होती है क्योंकि यदि नाटक की कथा ही कमजोर होगी तो बाहरी चमक दमक से कुछ नहीं हो सकता।

नाटक के चयन के समय निर्देशक को इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि जिस नाटक को उसने चुना है उसके, अपने लिए क्या सार्थकता है, दर्शकों के लिए क्या सार्थकता है? नाटक के दर्शकों के लिए सार्थक होना अति आवश्यक है क्योंकि दर्शक का नाटक से अभिन्न संबंध है। "नाटक का चुनाव करते समय आपको स्थानीय दर्शकों के विभिन्न वर्गों की रुचि, रुढ़ि, कलात्मक, संस्कार आदि का ध्यान रखना होगा। यदि आपने ऐसा नहीं किया तो मुझे भय है कि आपको गहरी निराशा का सामना करना पड़ सकता है।"⁷

नाटक में चाहे किसी भी काल विशेष की कथा हो, चाहे किसी भी विषय पर हो किन्तु वह क्या ध्वनित करना चाहता है, वह वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिक है कि नहीं इसका ध्यान रखना भी आवश्यक है। "नाटक की कहानी चाहे किसी भी काल, युग, मिथक, पुराण, लोककथा अथवा इतिहास से सम्बद्ध हो सकती है, लेकिन उसे सार्थक हमेशा वर्तमान में ही होना होता है। इसलिए ज्यादा अच्छे नाटक वही माने जाते हैं, जो अपने समय की सीमाओं को लॉघकर कालजयी और सार्वजनीन हो जाते हैं।"⁸

पात्रों का चयन भी नाटक की प्रस्तुति प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण चरण है। पात्रों के चुनाव में, नाटक के चरित्रों की आवश्यकता का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। मनुष्य का व्यक्तित्व बाह्य एवं आंतरिक दो पक्षों से मिलकर बनता है जिसका ध्यान हमें पात्रों के चयन के समय रखना आवश्यक है। उदाहरणस्वरूप यदि युधिष्ठिर के चरित्र के लिए पात्र का चयन करना हो तो शरीर से विशालकाय दिखने वाला व्यक्तित्व ही पर्याप्त नहीं है। उसकी वाणी और आचरण में भी वही समृद्धता झलकनी आवश्यक है। जब तक कोई चरित्र दोनों पक्षों से परिपूर्ण नहीं होगा तब तक रंगमंच पर यथार्थ का भ्रम उत्पन्न नहीं होगा। पात्रों के चयन के समय ही सभी संभावित अभिनेताओं को कृति पढ़ने के लिए

आमंत्रित कर, उनके साथ विभिन्न भूमिकाओं के बारे में चर्चा कर, उनकी धारणाओं का पता लगाते हुए, यह तय किया जाना चाहिए कि कौन सी भूमिका किसे देना बेहतर होगा।

नाटक के प्रस्तुति की एक मोटे तौर पर संकल्पना बना लेनी आवश्यक है। जिसमें मंच सज्जा के विषय में निर्णय लेने तथा प्रकाश योजना की तैयारी सम्मिलित है। सेट डिजाइनर के साथ बैठकर सामान्य रंग-योजना और वातावरण की माँग के बारे में अच्छी तरह विचार-विमर्श कर निर्णय लेना अच्छा रहता है। किन्तु निर्देशक को यह स्वतंत्रता प्राप्त है कि वह नए अर्थ सम्प्रेषित करने के लिए नाटक में कुछ परिवर्तन करे। प्रकाश व्यवस्था की भी एक रूपरेखा बनानी आवश्यक है। प्रकाश किस तरह का होगा, रंग क्या होगा, उसकी तीव्रता क्या होगी आदि बातों पर विचार कर यह तय कर लेना चाहिए कि पूरे नाटक के दौरान प्रकाश संबंधी क्या-क्या परिवर्तन होंगे।

नाटक को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए, दृश्यबंध महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह नाटक के पृष्ठभूमि के रूप में कार्य करता है। दृश्यबंध अपनी सृजनात्मकता के द्वारा नाटक के अर्थ को सम्प्रेषित करता है। किन्तु प्रारम्भ में भारतीय रंगशिल्प पर पारसी प्रभाव के कारण यह अतिरंजना प्रधान, भड़कीली, चमत्कारमूलक हो गई। नाट्यशास्त्र में भी दृश्यविधान को प्रस्तुत करने की कई प्रणालियों का उल्लेख है। इस प्रणाली में प्राकृतिक दृश्यों, पशुओं तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के प्रस्तुतीकरण के लिए प्रतीक रूपों के प्रयोग की कल्पना की गई है।

दृश्यबंध के भड़कीले प्रयोग की नेमिचन्द्र जैन ने आलोचना की है। उनका मानना है कि यह जीवन की अधिक सूक्ष्म संवेदनशील आवश्यकता को पूरी नहीं करती। वे लिखते हैं कि "दृश्यबंध एक ओर कार्यमूलक हो, अभिनेता की गतियों और चर्चा के साथ सम्बद्ध और संयोजित हो, अतिरिक्त न हो, अलंकरण न हो। दूसरी ओर वह नाटक के निर्देशक द्वारा स्वीकृत अर्थ निर्णय के साथ समन्वित होकर एक समग्र-सम्पूर्ण भाव-वस्तु का निर्माण करता हो, जिसका संप्रेषण ही पूरे प्रदर्शन प्रयुक्त का उद्देश्य है। इसलिए दृश्यबंध का रूप, उसमें प्रयुक्त आकृतियाँ, रेखाएँ तथा पिंड उसमें काम में आने वाली सामग्री के रंग और ताने-बाने (टेक्सचर) सभी का सुचिन्तित सुकल्पित और समन्वित होना आवश्यक हो गया।"⁹

रंगशिल्प के अन्तर्गत ही वेशभूषा, प्रकाश योजना और ध्वनि तथा संगीत योजना भी सम्मिलित है। वेशभूषा तथा अंग रचना को भरतमुनि ने आहार्य अभिनय के अन्तर्गत स्थान दिया है। वेशभूषा का प्रयोग केवल अधिक चमक-दमक दिखाने तथा दर्शकों को रोमांचित कर आकर्षित करने के लिए नहीं किया जाना चाहिए अपितु वह ऐसा होना चाहिए जो नाटक की भावदशा के अनुरूप हो और साथ ही युगानुकूल हो। वह केवल बाहरी आवरण नहीं है बल्कि वह पात्र के चरित्र को उद्घाटित करने तथा उसका व्यक्तित्व निर्धारित करने में सहायक होता है। उसकी महत्ता उद्घाटित करते हुए प्रसिद्ध नाट्यकर्मी, नाट्यविशेषज्ञ सर्वदानंद लिखते हैं कि "जो काम नाटक में दृश्यावलि करती है, जो उद्देश्य प्रकाश और ध्वनि संयोजन पूरा करते हैं, अंग रचना और वेश-विन्यास भी वही भूमिका निर्वाह करते हैं।

नाटक की भावभूमि के उपयुक्त वातावरण की सर्जना और प्रस्तुतीकरण में रंगमंच के इन आवश्यक उपादानों का बहुत बड़ा योगदान होता है।¹⁰

रमेश राजहंस वेशभूषा के निर्धारण के समय कुछ बिन्दुओं को ध्यान में रखने की सलाह देते हैं। वे लिखते हैं “नाटक की कथा समय की जिस अवधि से संबंधित हो, परिधान और पहनावा उसके अनुकूल होना चाहिए।... दूसरा सिद्धान्त यह है कि परिधान को पात्र की उम्र के अनुसार होना चाहिए।... तीसरा सिद्धान्त यह है कि पहनावे को पात्र के पेशे और सामाजिक स्थिति के अनुकूल होना चाहिए... पोशाक से पात्र की राष्ट्रीयता की झलक मिलनी चाहिए।... स्वभाव एवं व्यक्तित्व के अनुरूप होना चाहिए।¹¹

नाटक के मंचन में प्रकाश व्यवस्था का भी महत्वपूर्ण योगदान है। दृश्य रूप में देखी चीजों को मनुष्य बहुत शीघ्रता से ग्रहण करता है। प्रकाश के द्वारा ही वातावरण की सृष्टि करने में भी सहायता मिलती है। प्रकाश के माध्यम से ही मंच पर सुबह, शाम, अंधेरी या चाँदनी रात, बरसात आदि का वातावरण उपस्थित किया जा सकता है। प्रकाश के कुशल प्रयोग द्वारा दर्शकों की मनःस्थिति को भी नियंत्रित किया जा सकता है, प्रकाश दर्शकों को आनंदित, सुखी उदास और क्रोधित महसूस करने में सहायता कर सकता है। यह सत्य है की प्रकाश की समुचित व्यवस्था नाटक में जान डाल देती है किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न है कि रंगमंच पर समुचित प्रकाश व्यवस्था के लिए बिजली की बत्तियाँ कहाँ और कैसे लगायी जानी चाहिए? इस कार्य के विशेषज्ञ भिन्न-भिन्न रूप में इस प्रश्न का उत्तर देते हैं किन्तु इस मूल बात पर मतभेद नगण्य सा है कि कोई भी बत्ती दर्शक की आँख के सामने नहीं आनी चाहिए। रंगमंच पर प्रकाश व्यवस्था का उद्देश्य दिखाना नहीं छिपाना होता है। “नाटकीय प्रदर्शन में केवल प्रत्यक्ष करने की अपेक्षा आभासित करने की संभावना को अधिक महत्व दिया जाता है। प्रकाशपुंज को व्यर्थ फैलाया नहीं जाता, अपितु उसे अभिनय स्थल तक सीमित बनाया जाता है। प्रकाश का समुचित प्रयोग, स्वतः एक विज्ञान है।¹²

प्रकाश व्यवस्था के साथ-साथ ही ध्वनि संयोजन भी नाटक को सफल बनाने में महत्वपूर्ण है। ध्वनि संयोजन, वातावरण को यथार्थता प्रदान कराती है। यदि पाश्चात्य नाटकों के प्रदर्शन की बात करें तो वहाँ की नाट्य संस्थाओं में ‘इफेक्ट विभाग’ ही अलग होता है जो बराबर ध्वनि प्रभाव अंकन और ध्वनि संयोजन के क्षेत्र में प्रयोग करता रहता है और मंचस्थ प्रदर्शन में निदेशित समस्त ध्वनि प्रभावों के लिए उत्तरदायी होता है। किन्तु हमारे यहाँ यह जिम्मेदारी भी निर्देशक को ही वहन करनी पड़ती है।

ध्वनि प्रभाव उत्पन्न करने के लिए आवश्यक ध्वनि प्रभाव को टेपरिकार्डर पर तैयार कर, नियत समय पर नेपथ्य से बजाकर, वातावरण को सजीवता प्रदान की जाती है किन्तु ध्वनि प्रभाव देने में एक-एक क्षण का मूल्य होता है और जिस क्षण जो प्रभाव आना है उसमें निमेषमात्र इधर-उधर होने पर प्रभाव नष्ट होकर हास्याजनक हो सकता है।

पहले जब यांत्रिक उपकरणों का इतना विकास नहीं हुआ था तब कंठ, हाथ, पैर तथा वाद्य यंत्र ध्वनि प्रभाव उत्पन्न करने के साधन थे। किन्तु आज वैज्ञानिक साधनों की सहायता से यह कार्य बहुत

सरलता से सम्पन्न किया जा सकता है। मेघगर्जन, वर्षा, आंधी, आवाज, चिड़ियों की चहचहाहट इत्यादि ध्वनि प्रभाव उत्पन्न कर वातावरण की सृष्टि की जाती है।

किन्तु इन सबमें सबसे महत्वपूर्ण तथा नाटक का प्राणतत्व है— अभिनय। अभिनय के बिना कदाचित नाटक की कल्पना नहीं की जा सकती है। दर्शक थियेटर में चरित्रों के अभिनय देखने ही आता है। प्रस्तुति के अन्य तत्व अभिनय को सिर्फ वास्तविक बनाने का कार्य करते हैं। अभिनय का सर्वोच्च स्तर, रंगमंच में हुई छोटी-मोटी त्रुटियों को भी क्षम्य बना देता है।

वास्तव में अभिनय, किसी मनुष्य द्वारा किसी दूसरे मनुष्य के कार्य, व्यवहार, चेष्टादि की अनुकृति है। आंगिक-वाचिक दोनों प्रकार की अनुकृतियाँ अभिनय के अन्तर्गत आती है। अनुकारी अपनी अभिव्यक्ति द्वारा अनुकृत के जितना ही समीप पहुँचेगा उतना ही सफल अभिनेता कहा जाएगा। अभिनेता को केवल प्रभावशाली ढंग से नाटक में लिखी वार्ता ही दर्शकों के कानों तक नहीं पहुँचा देनी है – अपितु अनुकृत की अन्तर्तम भावनाएँ, उन भावनाओं के पीछे छिपे हुए उद्देश्य, उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व, आशा-आकांक्षा, विश्वास, विचार, कार्य-व्यवहार संक्षेप में अनुकृत का समस्त प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अस्तित्व दर्शकों पर उद्घाटित करता है।

प्रस्तुत विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाटक की प्रस्तुति प्रक्रिया एक कठिन रचनात्मक कार्य है जो कहानी के रूप में प्रस्तुत नाटक को एक नई-व्याख्या प्रदान कर उसमें छिपी नई संभावनाओं को उजागर करती है। नाटक की प्रस्तुति एक सामूहिक कर्म है और इससे संबद्ध सभी पक्षों से पूर्ण ईमानदारी चाहती है। नाटक का निर्देशक प्रस्तुतीकरण के सभी पक्षों के प्रति ईमानदार रहे, अभिनेता अपने चरित्र के प्रति ईमानदार रहे और प्रेक्षक निर्देशक द्वारा ध्वनित किए गए अर्थ को समझने के प्रति ईमानदार रहे तभी नाटक की प्रस्तुति प्रक्रिया वास्तविक रूप में सफल कही जा सकती है। नाटक की प्रस्तुती प्रक्रिया में नाटकों के प्रकार के अनुसार उसकी प्रस्तुति प्रक्रिया अलग हो जाती है, जैसे लोकरंगमंच, पाश्चात्य रंगमंच इत्यादि। लोकरंगमंच में तकनीकी का इस्तेमाल कम होता है जबकि पाश्चात्य रंगमंच में प्रस्तुति तकनीकी पर ही आधारित होती है। किन्तु मोटे तौर पर नाटक की प्रस्तुति प्रक्रिया एक जैसी ही होती है।

नाटक के प्रस्तुति का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं होना चाहिए। अपितु वह समाज को एक दृष्टिकोण, एक नई दिशा प्रदान करने वाली होनी चाहिए। प्रस्तुति प्रक्रिया के प्रत्येक स्तर पर सावधानी रखते हुए उसके मंजिल तक पहुँचाने का प्रयास किया जाना चाहिए। प्रस्तुति प्रक्रिया में नाटक के चुनाव पात्रों के चुनाव, सज्जा, अभिनय इत्यादि सभी तत्वों का बहुत महत्व है। नाटक के प्रस्तुति के समय ही उसका उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए। निर्देशक को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि जिस नाटक को वह प्रस्तुत करना चाह रहा है वह राष्ट्रहित में हो। वह किसी समुदाय या धर्म विशेष पर ऐसी कोई टिप्पणी न करता हो, जो उन्हें नागवार गुजरे। कहने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि उस समाज या समुदाय में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने के लिए भी कोई इस तरह का प्रयास ना हो। नाटक की प्रस्तुति प्रक्रिया एक दिव्य यज्ञ है जो सम्पूर्ण तत्वों की पूर्ण आहुति की इच्छा रखती है अर्थात् सभी तत्व

भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हुए भी समिधा के तत्वों की भाँति एक-दूसरे से एकाकार होकर यज्ञ की पूर्णता को प्राप्त हो।

संदर्भ ग्रंथ

1. नेमिचन्द्र जैन – रंगदर्शन, राधाकृष्ण प्रकाशन, तीसरी आवृत्ति : 2010, पृ. 21
2. देवेन्द्र राज अंकुर – रंगमंच का सौन्दर्यशास्त्र, राजकमल प्रकाशन, पहली आवृत्ति : 2012, पृ. 84.
3. रमेश राजहंस – नाट्य प्रस्तुति : एक परिचय, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहली आवृत्ति : 1997, पृ. 11.
4. वही, पृ. 12.
5. नेमिचन्द्र जैन – रंगदर्शन, राधाकृष्ण प्रकाशन, तीसरी आवृत्ति : 2010, पृ. 60.
6. रीतारानी पालिवाल – रंगमंच : नया परिदृश्य, पृ. 35.
7. रमेश राजहंस – नाट्य प्रस्तुति : एक परिचय, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहली आवृत्ति : 1997, पृ. 20.
8. देवेन्द्र राज अंकुर – रंगमंच का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. 85.
9. नेमिचन्द्र जैन – रंगदर्शन, पृ. 66.
10. सर्वदानंद – रंगमंच, पृ. 136
11. रमेश राजहंस – नाट्य प्रस्तुति : एक परिचय, पृ. 128–129.
12. रीतारानी पालिवाल – रंगमंच : नया परिदृश्य, पृ. 64.